

उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक विरासत : लोककलायें

*भारती

“संस्कृति” शब्द का संबंध संस्कार से है, जिसका अर्थ है : **संशोधन करना, उत्तम बनाना**। मानव के यही संस्कार उनकी संस्कृति कहलाते हैं। जलवायु के अनुकूल रहन – सहन की विधियाँ, विचार तथा परम्पराएँ लोगों में रचनात्मक तरीके से ढल जाती हैं, वही बाद में उनके संस्कार बन जाते हैं। संस्कृति का वाह्य पक्ष भी होता है और आन्तरिक भी। हमारे वाह्य आचार हमारे विचारों और मनोवृत्तियों के परिचायक होते हैं, किसी भी राष्ट्र की सभ्यता उसकी संस्कृति की उपज होती है। हमारा रहन – सहन व पोशाक आदि सभी संस्कार देश के वातावरण, परिस्थिति व रूचि के अनुकूल ही निश्चित हो जाते हैं। जमीन पर बैठना, हाथ से खाना, नहाकर खाना व पहनावा, ये सभी आचरण किसी भी स्थान के लोगों की मान्यताओं से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार वातावरण और रूचियों के अनुकूल ही उचित आचरणों का विधान किया गया है। मनुष्य में सौन्दर्यपासना की प्रवृत्ति अनादि है। सौन्दर्य जिज्ञासा की इस प्रवृत्ति ने ही संस्कृति और सभ्यता को जन्म दिया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव संस्कृति और सभ्यता के विकास में कला का सर्वाधिक योगदान रहा है।

प्रस्तुत शोधपत्र में उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक लोककला का अध्ययन किया गया है। हिमालय के मध्यवर्ती भाग का एक अंचल है : **“उत्तराखण्ड”**, जिसे भौगोलिक रूप से मध्य हिमालय कहा जाता है। **‘महाकवि कालिदास’** ने अपने महाकाव्य के मंगल श्लोक में हिमालय की वंदना कर नगाधिराज को देवतात्मा एवं पृथ्वी का मानदण्ड कहा है—

अस्तुत्तरस्यां दिशिदेवात्मा, हिमालयोनाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधिः वग्राह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।¹

प्राचीन धर्मग्रन्थों में उत्तराखण्ड का उल्लेख केदारखण्ड, मानसखण्ड और हिमवन्त के रूप में मिलता है। लोककथा के अनुसार, पाण्डव यहाँ आए थे और विश्व के सबसे प्राचीन महाकाव्य महाभारत व रामायण की रचना यहाँ हुयी थी।²

हम बात कर रहे हैं उत्तराखण्ड की संस्कृति को संरक्षित करने वाले विभिन्न कारकों कि जो इसे अपने में समेटे हुए है तथा इसे संजोए रखने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन्हीं प्रमुख कारकों में से एक कारक है :

लोककलाएं :

लोककला के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह समस्त कला जो लोक द्वारा निर्मित होती है। लोककला की प्रवृत्तियों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसके समस्त तत्व श्रमिक जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से भरे पड़े हैं। जब आदिमानव सर्वप्रथम शिकार की खोज में गया होगा तो उसने एक नुकीले पत्थर के टुकड़े का निर्माण किया होगा तथा अपने शरीर को ढकने के लिए कुछ पत्तियों को जोड़कर वस्त्र तैयार किया होगा, इसे ही मानव की कला का आरम्भ माना जा सकता है।

कोई भी कला किसी व्यक्ति के जीवन के साथ – साथ समाज और राष्ट्र के जीवन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कला ही किसी भी व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाती है एवं उसे परिष्कृत करती है। किसी भी क्षेत्र की लोककला उस क्षेत्र की सांस्कृतिक विरासत, उसकी पहचान और उसके अस्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। लोक से उत्पन्न कला ही लोककला है। जो जन सामान्य के हृदय की भावनाओं द्वारा प्रकट होती है। लोककलाओं की दृष्टि से उत्तराखण्ड बहुत समृद्ध है। यहाँ की लोककलाएँ भारतीय धर्म एवं संस्कृति में विशिष्ट स्थान रखती हैं तथा विविधता की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। वास्तव में सुंदरता के प्रति आकर्षण की सृजनात्मक प्रेरणा हमें लोककलाओं में ही देखने को मिलती है। उत्तराखण्ड की लोककला

*संविदा प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पिथौरागढ़

के अन्तर्गत आंकिक अभिव्यक्ति, चित्र ऐपण, रंगोली, अल्पना, चौक, वस्त्र छपाई, पर्व, उत्सवों पर रेखित की जाने वाली विविध आकृतियों के साथ ही पेशेवर कला तथा मूर्ति कला आदि निहित है। आंकिक चित्र के रूप में पर्व, त्योहार, ब्याह शादी आदि के समय मंगल चिह्न दीवारों या भूमि पर अंकित करना बहुत पुरानी प्रथा है। धरती पर अंकित किए जाने वाले चिन्हों का चौका या रंगोली तथा दीवारों पर अंकित किए जाने वाले चिन्हों को थापा कहा जाता है। उत्तराखण्ड में इस आंकिक चित्रप्रथा को ऐपण कहा जाता है, जो लोकचित्रों की सबसे प्रमुख विद्या है। **ऐपण का अर्थ हाथ से अथवा अँगुलियों से चित्रांकन करना होता है।** यहाँ की लोककलायें परम्परागत रूप में विभिन्न पर्वों और धार्मिक अनुष्ठानों में अभिव्यक्त होती हैं तथा जीविकोपार्जन और शारीरिक अलंकरण को भी लोककलाओं का माध्यम माना गया है।

इन लोककलाओं को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :-

1. जीविकोपार्जन की कलायें
2. संस्कृति – संस्कार प्रधान कलायें

1. **जीविकोपार्जन की कलायें :-** परम्परागत कलाओं के अन्तर्गत कुछ वंशानुगत व्यवसाय प्रधान कलायें आती हैं। जैसे: पत्थर तराशने की कला, काष्ठकला, वस्त्रकौशल, आभूषणकला, बुनने की कला, लौह उपकरण कला, बर्तन बनाने की कला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला आदि। ये ऐसी कलायें हैं, जो जन सामान्य के हृदय की भावनाओं द्वारा लोककला के रूप में प्रकट होती हैं। यह हमारे जीविकोपार्जन में भी सहयोग देती हैं।

2. **संस्कृति – संस्कार प्रधान कलायें :-** जैसा हमने पूर्व में कहा कि मानव के संस्कार ही उसकी संस्कृति कहलाते हैं। हिमालयी क्षेत्रों में हमारे संस्कारों और संस्कृति को संजोए रखने के लिए भी अनेक प्रकार की लोककलायें हैं, जैसे: – ऐपण, थापा, नात, ज्युंति, बारबूंद या बरबूंद, वसुधारा, डिकरा, पिछोडा और पोथी – चित्र आदि। ये ऐसी लोककलाएँ हैं जो हमारे संस्कारों और संस्कृति को सुरक्षित किए हुए हैं। हमारी संस्कृति का संरक्षण करने वाली कुछ लोककलाओं का वर्णन हम यहाँ कर रहे हैं :-

3. **ऐपण :-** ऐपण, जिसका मुख्य अर्थ है : **लिखना**। कुमाऊँ की स्थानीय चित्रकला की शैली को ऐपण के रूप में जाना जाता है। इन्हें महिलाओं द्वारा पर्वों में बनाया जाता है। इन ऐपणों के नाम, स्थान और अनुष्ठान के अनुरूप होते हैं, जैसे लक्ष्मी पूजा में ऐपण को 'लक्ष्मी पूजा', शिव पूजा में 'शिवपीठ', पूजाघर, घर का आँगन, दहलीज, सीढ़ियाँ जो प्रायः कच्ची होती हैं उन पर बनाया गया ऐपण को पिथौरागढ़ जनपद में 'खाट' कहते हैं। आँगन में लिखे जाने वाले ऐपण को 'खोली के ऐपण' कहते हैं। पूर्व में ऐपण गेरू व चावल के आटे से बनाया जाता था। वर्तमान में हमारी लोककला ऐपण का पदार्पण अंतर्राष्ट्रीय बाजार में भी हो चुका है। आजकल ऐपण के रेडीमैड स्टीकर भी प्रचलन में हैं। इस कला ने लोककला की परंपरा को बनाए रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

ऐपण का इतिहास :-

कुमाऊँ का प्राचीन इतिहास अनेक कबीलों तथा विभिन्न संस्कृतियों को अपने आँचल में समेटे हुए है। कुमाऊँ में अल्पना तथा भित्ति चित्रों का प्रत्यक्ष रूप व चलन चन्द्र शासन काल से होता है। कुमाऊँ में चन्द्र वंश की स्थापना का सूत्रपात चम्पावत में सोमचन्द्र से आरम्भ होता है और यह पता चलता है कि 'साह' लोग चन्द्रों के साथ ही बाहर से आये थे। कुमाऊँ में ऐपण केवल ब्राह्मणों और साहों द्वारा बनाए जाने की जानकारी प्राप्त होती है। किन्तु इन दोनों के ऐपणों में कुछ लाक्षणिक अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं।

साहों व ब्राह्मणों के ऐपणों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि ब्राह्मणों में चावल की पिष्टि निर्मित घोल द्वारा धरातलीय अल्पना अनेक आलेखन प्रतीकों, कलात्मक डिजाइनों, बेलबूटों में प्रकट होती है। साहों में धरातलीय आलेखन ब्राह्मणों के समान ही होते हैं, परन्तु इनमें भित्ति चित्रों की रचना की ठोस परम्परा है। विवाहोत्सव में विवाहित स्त्रियों के लिए विशेष

प्रकार का कुसुमी पिछौड़ा सारे कुमाऊँ में प्रचलित है। परन्तु इनके निर्माण व रंगों की आभा साह व ब्राहमणों में विशेष हैं, साहों में कुसुमी पिछौड़ा विशिष्ट रंगों व प्रकाश के कारण सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं और यही ब्राहमणों के कुसुमी पिछौड़े के रंगों के प्रयोग तथा केन्द्र के आलेखन का प्रबल लाक्षणिक अन्तर स्पष्ट करते हैं। थापा श्रेणी में चित्राकन दीवालों या कागज में होता है। यह शैली ब्राहमणों में नहीं के बराबर है। जिन आलेखनों या चित्रों की रचना कागज में की जाती है। उन्हें ' प ' कहते हैं। ऐपणों में एक स्पष्ट अन्तर यह है कि ब्राहमण गेरू मिट्टी से धरातल का आलेपन कर चावल के आटे के घोल से सीधे ऐपणों का आलेखन करते हैं परन्तु साहों के यहाँ चावल की पिष्टि के घोल में हल्दी डालकर उसे हल्का पीला अवश्य किया जाता है, तभी ऐपणों का आलेखन होता है। साहों के यहाँ ऐपणों के अन्तर्गत एक और विशेष शैली है, जिसे वर कहा जाता है। क्योंकि इसमें बूंदों तथा उनकी संख्या द्वारा समान रूप से वरों व डिजाइनों का निर्माण किया जाता है। हर डिजाइन व अभिप्राय के लिए बूंदों की अलग – अलग संख्या निर्धारित है। प्रत्येक आलेखन विशेष रंग द्वारा निर्धारित व नामांकित है। पट्टे पर वर बूंद मुख्यतः उपासना या पारिवारिक पूजा गृह के अतिरिक्त भी दृष्टिगोचर होता है। यदि उनके निर्माण का कारण जाना जाये तो शत-प्रतिशत यह तथ्य उजागर होता है कि अमुक समय में विवाह या यज्ञोपवीत संस्कार उस स्थान पर हुआ था, इसलिए वहाँ वरों का निर्माण हुआ था। थापा पट्टा शैली, ज्यूति मातृका इत्यादि शैलियों चम्पावत या संलग्न क्षेत्र में मात्र कुछ ब्राहमण अथवा साह परिवारों के अतिरिक्त कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अन्य इनका ज्ञान नहीं रखते। इन शैलियों की विगत 100 वर्षों से सुरक्षित अनेक रचनाएं आज भी अल्मोडा, रानीखेत में हैं।

कुमाऊँ में प्रचलित मुख्य ऐपण व चौकियाँ निम्नलिखित हैं –

- S सरस्वती पीठ
- S जनेऊ पीठ
- S शिव पीठ यंत्र
- S सूर्य चौकी
- S स्यो
- S नाता
- S धुँया
- S विवाह का ज्यूति पट्टा
- S यज्ञोपवीत का ज्यूति पट्टा
- S छट्टी की ज्यूति व सामान्य ज्यूति
- S ज्यूति मातृका चौकी
- S जन्माष्टमी का पट्टा या थापा
- S हर बोधिनी पट्टा
- S हरशयनी पट्टा
- S दूर्वाष्टमी और डोर दुवज्योड़ा पट्टा
- S ऋषि पंचमी व नागपंचतमी पट्टा
- S महालक्ष्मी का पट्टा
- S नवदुर्गापट्टा

ऐपण बनाने की विधि :- गाँव घरों में तो आज भी हाथ से ऐपण तैयार किये जाते हैं। ऐपण बनाने के लिए गेरू तथा चावल के विस्वार का प्रयोग किया जाता है। समारोहों और त्योहारों के दौरान महिलाएं आमतौर पर ऐपण को फर्श पर दीवारों, पूजा कक्ष और विशेष रूप से देवी देवताओं मंदिर के फर्श पर कुछ कर्मकाण्डों के आकड़ों के साथ सजाती है।

कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं ने ऐपण कला को जीवित रखने का प्रयास किया है। ग्रामीण अंचलों में यह परंपरा काफी समृद्ध है। संस्थाएं ऐपण कला सिखाने के लिए समय – समय पर प्रशिक्षण शिविर लगाती रहती हैं। प्रमुख रूप से इसमें महिलाओं को लक्ष्मी चौकी, विवाह चौकी, दीवाली की चौकी तैयार करने के तरीके सिखाए जाते हैं।

कुमाऊँ में भित्ति :- दीवारों पर चित्रण करने की विधा को भित्तिचित्र विधा कहा जा सकता है। आदिमानव के द्वारा गुफाओं में अनेक चित्र बनाये गए। इसलिए यह चित्रांकन का प्रारम्भिक इतिहास कहा जा सकता है। ऐसी प्राचीन गुफायें उत्तरांचल के कई स्थानों में प्राप्त हुई हैं। कुमाऊँ का 'लखिउड्यार' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। चमोली जनपद की कतिपय गुफाओं में भी ऐसे चित्र प्राप्त हुए हैं।

लोकचित्रण की एक शैली 'बरबूंद' भी इस क्षेत्र में प्रचलित है जिसका अर्थ है 'रेखा और बिंदु'। दीवारों पर चित्रण की इस पद्धति में बिंदुओं के डालने में पश्चात् उन्हें रेखाओं द्वारा जोड़ दिया जाता है। बिन्दु व रेखाओं द्वारा नमूना तैयार हो जाने पर इनमें रंग भर दिये जाते हैं। स्वास्तिक बर, सूर्जीबर, गौरतिलक आदि इसी प्रकार के अंकन हैं।

कुमाऊँनी ऐपणों को अगर सूक्ष्मता से देखा जाए तो बोध होता है कि इन पर बंगाल का स्पष्ट प्रभाव है। प्रतीक व नाम शुद्ध कुमाऊँनी भाषा व क्षेत्र के ही हैं परन्तु पूनर्गठन बंगाल की अल्पना के प्रभाव से पूर्ण दिखाई देता है। 16 वीं सदी के तारानाथ, जो तिब्बती इतिहासकार थे, द्वारा लिखित इतिहासकार से ज्ञात होता है कि 7वीं सदी में पश्चिमी भारत में 'भाखड़' से एकचित्र शैली प्रचलित हुई और 9वीं सदी से पूर्वी भारत में भी एक शैली का प्रचलन हो चला था। पहले नेपाल के चित्रकार पश्चिम भारतीय शैली में काम करते थे। परन्तु बाद को उन्होंने पूर्ण शैली को अपना लिया। यह पूर्वी शैली ही आगे चलकर 'सेन' और 'पाल' शैली कहलाई। इस शैली में जहाँ चित्रों का निर्माण मात्र लाल, पीला, नीला, काला, सफेद, बैंगनी रंगों में होता था। वही चित्रांकन उसी प्रकार कुमाऊँ में लिख थापों व वर बूंदों में। बंगाल में सेन व पाल शासन में अनेक वज्रयानी (तांत्रिक) स्थविर प्रगट हुए तथा उस समय तांत्रिक बेंद्ध (वज्रयानी) केवल नेपाल, बिहार तथा बंगाल में ही शेष रह गए थे और तिब्बत ब्रजयानी लामावाद का दुर्ग बन चुका था, इसलिए कुमाऊँ की वयोवृद्ध जानकारों का कहना है कि यह कला भोट देश अर्थात् तिब्बत से आयी है। मान्यतानुसार शिव का स्थान कैलाश पर्वत तथा विष्णु का मानसरोवर दोनों भोट प्रदेश (तिब्बत) में हैं, इसी प्रकार शिव – पार्वती व विष्णु की पूजा अर्चना के लिए हर-हर मण्डल व गौर तिलक का निर्माण किया जाता है।



वस्तुतः कला एक साधना है, समर्पण है, जो समाज तथा राष्ट्र की सेवा, आराधना एवं पूजा के सशक्त माध्यम द्वारा प्रतिबिम्बित होती है। वर्तमान समय में उत्तराखण्ड की यह लोककलाएं अपने मूल स्वरूप में विद्यमान हैं, जिसके लिए आज हमें इसके स्वरूप को बचाए रखने की आवश्यकता है जिससे वर्तमान पीढ़ी द्वारा भावी पीढ़ी को यह ज्ञान सरलरूप से संचरित होता रहे। अतः विरासत में मिली इस संस्कृति को बचाये रखने हेतु परिवार एवं सामाजिक स्तर पर सार्थक प्रयास करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. कुमारसंभवम् महाकवि कालिदास : प्रथम सर्ग, प्रथम श्लोक ।
2. [bharatdiscovery.org/india/उत्तराखण्ड की संस्कृति](http://bharatdiscovery.org/india/उत्तराखण्ड%20की%20संस्कृति) ।
3. उत्तराखण्ड समग्र ज्ञानकोश, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद बलोदी ,अ.9/पृ० 337 ।
4. meropahad.blogspot.com>blog.post